

ज्ञानार्णव प्रवचन नवम भाग

सहजानंद शास्त्रमाला

# ज्ञानार्णव प्रवचन

नवम भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री  
पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

## प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक 'ज्ञानार्णव प्रवचन नवम भाग' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishashtra.org/>वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कम्प्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे ।

इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु श्री सुरेशजी पांड्या, इन्दौर के हस्ते गुप्तदान रु. 1000/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर एवं प्रूफिंग करने हेतु श्रीमती प्रीती जैन, इन्दौर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

[Email-vikasnd@gmail.com](mailto:Email-vikasnd@gmail.com)

[www.jainkosh.org](http://www.jainkosh.org)

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी“सहजानन्द” महाराज द्वारा रचित

## आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। जाता दृष्टा आत्मराम॥टेक॥

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।  
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।  
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान॥

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।  
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।  
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।  
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम॥  
अहिंसा परमोधर्म

## आत्म रमण

में दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ॥टेक॥

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।  
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन० ,मैं सहजानंद०॥१॥

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर मैं मेरा कुछ काम नहीं।  
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०॥२॥

आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।  
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०॥३॥

## Table of Contents

|                  |       |
|------------------|-------|
| प्रकाशकीय .....  | - 2 - |
| आत्मकीर्तन ..... | - 3 - |
| आत्म रमण .....   | - 4 - |
| श्लोक- 629 ..... | 1     |
| श्लोक- 630 ..... | 2     |
| श्लोक- 631 ..... | 4     |
| श्लोक- 632 ..... | 8     |
| श्लोक- 633 ..... | 12    |
| श्लोक- 634 ..... | 14    |
| श्लोक- 635 ..... | 3     |
| श्लोक- 636 ..... | 4     |

## ज्ञानार्णव प्रवचन नवम भाग

### श्लोक- 629

कुर्वन्ति वनिताहेतोरचिन्त्यमपि साहसम्।

नराः कामहठात्कारविधुरीकृतमानसाः॥

कामातों का अचिन्त्य दुःसाहस- कामवासना से जिसका चित्त दुखित है ऐसा पुरुष स्त्री की प्राप्ति के लिए ऐसा भी काम करने का साहस करता है जो चिन्तयन में भी न आया हो। जैसे पुराणों में कई जगह सुनने में आया कि स्त्री को पाने के लिए बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ भी लड़ी और आजकल भी छोटे कुलों में कितनी घटनाएँ बनती हैं जो अनेक मायाचार, छल, धोखा भी कर बैठते हैं। प्रयोजन यह है कि कामव्यथा एक ऐसी खोटी मानसिक व्यथा है जो व्यर्थ की है। कामव्यथा इतनी खोटी व्यथा है कि जिसमें अपने आत्मा की सुध रखना तो दूर रहो किन्तु बड़े से बड़ा निन्द्य कार्य भी कर सकता है। जैसे काम भी एक लोभकषाय का अंश है। जैसे कषायें चार हैं क्रोध, मान, माया, लोभ तो वह भी लोभ का एक हिस्सा है। लेकिन यह इतनी कठिन कषाय है कि कषाय के नाम से भी अलग नाम इसका रखा है। जहाँ बताया है कि जीव के 6 बैरी हैं वहाँ मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ ये 6 बताये हैं।

मोह और काम की अहितकारिता- सर्वप्रथम बैरी मोह को बताया है क्योंकि उसमें पदार्थ के स्वरूप का सही ज्ञान भी नहीं रहता। मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानज्योति स्वरूप हूँ इसका भान मोह में होता ही नहीं है। जहाँ भिन्न परवस्तुओं से मोह भाव लगा है वहाँ आत्मतत्त्व का भान क्या? मोह के बाद फिर काम का नम्बर रखा है। यद्यपि काम भी प्रायः मोहवश होता है लेकिन मोह का अतीव गहन अंधकार है और उसके निकट का अंधकार काम है। जितना विवेक क्रोध के समय भी रह

सकता है उतना भी विवेक कामवासना के समय नहीं रहता। क्रोध करते हुए भी पुरुष यह निहार सकता है कि मैं ठीक काम नहीं कर रहा हूँ और मुझे क्रोध न करना चाहिए। मान कषाय में भी हित का लक्ष्य कभी रखा जा सकता है, मगर काम में हित का बोध नहीं रखा जा सकता। इसी तरह काम के बाद फिर विकट कषाय है माया कषाय। काम इन कषायों में सिरताज कषाय है। जो काम के वशीभूत हैं वे आत्मध्यान के पात्र नहीं हैं और जिनमें आत्मा की सुध लेने की पात्रता नहीं है उन पुरुषों को शान्तिलाभ नहीं मिलता है। शान्ति तो जितना आत्मा के सहज स्वरूप के निकट आये उतनी ही प्राप्त होती है। परवस्तुवों की ओर आकर्षण रहे तो जब अपना उपयोग बाहर की ओर गया है तो वह अशान्तिरूप रखकर ही गया है। तो आत्मा के निकट आने की पात्रता उस ही जीव के होती है जो कामासक्त पुरुष नहीं है। कामव्यथा न उत्पन्न हो सके इसके लिए चाहिए कि हम ज्ञानार्जन, गुरुसत्संग में अपना समय बितायें और अपनी आजीविका के कार्यों में भी समय लगायें। अच्छा उपयोग लगता रहे न्याय कार्यों में, तो ऐसे गन्दे विचार उत्पन्न होने का अवसर नहीं आता।

### श्लोक- 630

उन्मूलयत्यविश्रान्तं पूज्यं श्रीधर्मपादम्।

मनोभवमहादन्ती मनुष्याणां निरङ्कुशः॥

**मनोज महादन्ती द्वारा धर्मवृक्ष का भ्रंश-** बहुत बहुत ज्ञान करके और बहुत साधना के द्वारा पूज्यश्री धर्मवृक्ष को भी हरा भरा बनाया हो किसी ने, संयम वृक्ष को निर्दोष पालने का यत्न किया हो, चारित्र भी बढ़ाया हो, लेकिन जिस किसी समय काम की कुबुद्धि उत्पन्न होती है तो यह कामरूपी महान् हस्ती निरङ्कुश होकर ऐसे धर्मवृक्ष को भी उखाड़ देता है। अनेक ऋषि ऐसे भी हुए हैं जिनका ऐसा उत्कृष्ट तपश्चरण था कि तपश्चरण के प्रभाव से श्रुतज्ञान के 11 अंग 9 पूर्व की सिद्धि हो गयी, श्रुतज्ञान मायने आगम शास्त्र। शास्त्रों का विस्तार मूल में 10 अंग और कुछ अंग बाह्यों में विस्तृत है। तो 12 अंगों में से 11 अंग और 9 पूर्व तक का अध्ययन अभव्य जीव के भी हो सकता है। कोई अभव्य जीव मुनि हो गया, तपश्चरण ठीक चल रहा तो 11 अंग 9 पूर्व तक का ज्ञान उसके भी हो सकता है। कोई भव्य जीव इतना ज्ञान साधु अवस्था में कर चुके तब 11 अंग 9 पूर्व की सिद्धि करने के बाद जब आत्मा की विशुद्धि बढ़ती है तो उस समय 10 वें अंग की सिद्धि होती है। 10 वें पूर्व का नाम है विद्यानुवादपूर्व। उस समय बहुत से देवी देवता अपना सुन्दररूप रखकर ऋषि के पास आते हैं और हाथ जोड़कर उनसे विनती करते हैं महाराज हमें आज्ञा दो, बहुत

सुन्दररूप सजाकर बहुत प्रेमपूर्वक ऋषि का अनुनय विनय करते हैं, उस समय यदि वह ऋषि विकार न करे और अपने शुद्ध लक्ष्य पर कायम रहे तो इसके बाद उसे बाकी श्रुतज्ञान भी सिद्ध हो जाता है और वह निर्वाण का भी पात्र बन जाता है। लेकिन उन देवी देवताओं के अनुनय विनय को सुनकर उसके कोई इच्छा जग जाय तो उसका धर्मवृक्ष उखड़ जाता है और यदि कामविकार जग जाय तब तो अत्यन्त पतित हो जाता है तो बड़ी मेहनत से संयमवृक्ष को हरा भरा किया हो लेकिन यह काम संस्कार उस वृक्ष को मूल से उखाड़ देता है।

**ब्रह्मचर्य की महिमा-** ब्रह्मचर्य की बड़ी अद्भुत महिमा है, यह सबको लाभदायक है। गृहस्थी को भी जब अधिक आयु हो गयी तो पति पत्नी दोनों को पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना चाहिए। इससे मन की शुद्धि बढ़ती है। पर्व आदिक में ब्रह्मचर्य से रहें, यों भी अधिकाधिक ब्रह्मचर्य से रहें तो यों ब्रह्मचर्य से जीवन व्यतीत करने में बहुत शान्ति प्राप्त होती है, धैर्य जगता है, चित्त अस्थिर नहीं होता। किसी भी काम को सिद्ध करने के लिए बुद्धि भी चलती है। सेठ सुदर्शन की कथा बड़ी प्रसिद्ध है और स्त्रियों में तो सतियों की कथायें बहुत प्रसिद्ध हैं। सेठ सुदर्शन के रूप को देखकर एक रानी मुग्ध हुई। तो रानी ने किसी प्रकार धोखे से उसे बुलाया और बहुत बहुत बातें कहीं, पर वह विचलित न हुआ। और बोला कि मैं तो परस्त्री के लिए नपुंसक हूँ। अन्त में रानी ने क्रुद्ध होकर उसको असदाचार का दोष लगाया और राजा ने उसे शूली का हुक्म दिया। जब शूली पर चढ़ाया गया तो उस समय देवों ने आकर उसकी रक्षा की और उसके बैठने का सिंहासन बना। ऐसे ही सतियों की घटनाओं में भी देवों ने सहायता की। सती सीता को अग्नि कुण्ड से बचाया, द्रोपदी का चीर बढ़ाया, और और भी सतियों का महान प्रभाव हुआ। वे अपने शील पर अडिग रही। तो जो अपने शील से अडिग रहता है, संकल्प जिनका दृढ़ रहता है उस दृढ़ संकल्प वाले जीव के कोई अद्भुत शक्ति प्रकट होती है जिससे चित्त अस्थिर नहीं होता, धीरता प्रकट होती है और किसी भी समस्या को सुलझाने में उनकी बुद्धि प्रबल रहती है।

**ब्रह्मचर्य के प्रताप से सुगम सुखसमृद्धिलाभ-** ब्रह्मचर्य ही वास्तविक सुख है, तप है, स्वाध्याय है, यश है। बड़े बड़े वीर पुरुष बड़ी बड़ी वीरता की बात कर लेते हैं किन्तु एक काम के समक्ष अपने घुटने टेक देते हैं, और जो पुरुष अपने ब्रह्मचर्य व्रत को सही निभाता है अध्यात्मदृष्टि से वह बहुत बली मनुष्य है। गृहस्थी में पातिव्रत्यधर्म की बहुत बड़ी महिमा कही है। उसका मतलब ब्रह्मचर्य अणुव्रत से है। पुरुष भी अपनी पत्नी को छोड़कर अन्यत्र कहीं दृष्टि न दे स्वप्न में भी ऐसा जो ब्रह्मचर्य अणुव्रत है उसकी भी बड़ी अधिक महिमा है और फिर जो साधुसंत ब्रह्मचर्य महाव्रत का

पालन करते हैं उनको आत्मतत्त्व का दर्शन, प्रभु से मिलन ये सब सुलभ होते हैं और शीघ्र होते रहते हैं।

### श्लोक- 631

प्रकृप्यति नरः कामी बहुलं ब्रह्मचारिणे।

जनाय जाग्रते चौरौ रजन्यां संचरन्निव।।

**कामी पुरुषों का निष्काम पुरुषों पर कोप-** कामी मनुष्य ब्रह्मचारी पुरुषों के लिए क्रोध करते रहते हैं। जैसे कभी किसी कषायी पुरुष को साधु के दर्शन हो जायें तो कषायी साधु को कोसता है कि यह साधु कहाँ से आ गया, आज तो शिकार मुझे न मिलेगा। जैसे रात्रि को चारी करने वाले लोगों को जगने वाले लोगों पर क्रोध आता है, ऐसे ही कामी पुरुषों को ब्रह्मचारी पुरुषों पर क्रोध आता है, यह एक स्वाभाविक नियम है। जिसकी जैसी संगति है वह उसमें वैसे ही रमना चाहता है। संतजन संतों में ही रमते हैं, कामी पुरुष कामीजनों में ही रमते हैं। तो जैसे संतों को कामी अधम पुरुष नहीं सुहाते इसी प्रकार अधम पुरुष को संत पुरुष भी नहीं सुहाते। पवित्र परिणाम रखने से आत्मा में एक ठोस लाभ पहुँचता है। वह बहुत उत्कृष्ट पद में ले जाता है। और नीच परिणाम जीव को निम्नपद में ले जाता है। यह बहुत बड़ी विपत्ति है।

**प्रारम्भ से ही संभाल की आवश्यकता-** यदि कोई प्रारम्भ से ही अपने परिणामों के संभाल का यत्न बनाये रहे तो सावधानी रहती है, अन्यथा संभाल कठिन है। जैसे वर्षाकाल में कहीं रिपट वाली जगह पर थोड़ा भी रिपटे तो पूरा रिपट जाते हैं और शुरू से ही धीरे-धीरे संभलकर पग रखें, लम्बी डग न रखें तो बचकर निकल जाते हैं। ऐसी ही सोहबत की बात है, इन परिणामों की बात है। खोटे परिणाम शुरू में हों और तभी अपनी संभाल कर लें तो संभल जाते हैं और प्रारम्भ में ही नियंत्रण न रख सके तो फिर पापों की ओर ही निःशंक प्रवृत्ति हो जाती है। और, पापों में निःशंक प्रवृत्ति होने का ही नाम व्यसन है।

**प्रारम्भिक असावधानी से व्यसन की विपदा-** पाप 5 होते हैं- हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। हिंसा की प्रकृति नहीं है, चाहते नहीं है और परिस्थितिवश कोई हिंसा करनी ही पड़ी ऐसा मनुष्य हिंसापाप तो करता है पर उसके हिंसा का व्यसन अभी नहीं लगा। और, जिसको हिंसा करने

की प्रकृति बन गयी उसे कोई ग्लानि नहीं आती, उसे जरा भी रुकावट नहीं आती, क्योंकि चित्त में जीव हिंसा का व्यसन लग गया। उसी का नाम शिकार खेलने का व्यसन है। कोई पुरुष किसी समय किसी खास परिस्थिति में चित्त न चाहते हुए भी झूठ बोल गया तो उसने पाप तो किया, पर अभी झूठ बोलने का व्यसन नहीं बना। जब दो चार बार झूठ बोला जाय और झूठ बोलने में फिर उसे झूठ का व्यसन लग गया। इसी प्रकार कभी किसी बड़ी विकट परिस्थिति में कोई चोरी का काम कर ले तो उसने चोरी का पाप तो किया पर चोरी का व्यसन नहीं हुआ। जो चोरी करने का आदी बन जाय, चोरी करने में अपना भला माने, जैसे डाकू अथवा गुप्त अगुप्त चोर होते हैं तो वह चोरी का व्यसन कहलाता है। ऐसी ही कुशील की बात है। परस्त्रीसेवन व्यसन में शामिल है। कभी किसी परिस्थिति में कुशील बन गया तो वह पाप है, जब उसकी आदत बन जाय, उसमें निःशंकता हो जाय तो वह कुशील व्यसन बन जाता है। तो व्यसन लगने पर फिर छुटकारा होना कठिन होता है। जैसे बीड़ी पीने वालों से कहा जाय कि बीड़ी पीना छोड़ दो, उन्हें बड़ा कठिन मालूम होता है और आरम्भ में ही जब बीड़ी पीना शुरू किया है तब छोड़ने को कहा जाय तो जल्दी ही छोड़ देते हैं। किसी चीज का व्यसन बनने पर उससे छुटकारा होना कठिन है, तो जो कामासक्त पुरुष हैं उन्हें काम का व्यसन बन जाता है और फिर वे उसे छोड़ नहीं सकते।

**वस्तुतः परपदार्थों का भोगना असंभव-** संसारी प्राणियों की हालत तो प्रायः ऐसी ही है कि वे न परपदार्थों को भोग सकते हैं और न परपदार्थों को छोड़ सकते हैं। अध्यात्मदृष्टि से विचार किया जाय तो कोई भी जीव परपदार्थ को भोगता नहीं है जो भी भोगता है वह अपने कषाय और भावों को भोगता है। जैसे कोई रूपवान वस्तु है उसे देखकर खुश हो रहे हैं तो यही कहा जाता है कि इसने रूपवान वस्तु को भोगा, पर हुआ क्या कि वह परपदार्थ जहाँ का तहाँ ही रहा, यहाँ इसने अपना ज्ञान बिगाड़कर अपने आपमें कल्पनाएँ की, उसके अनुभवन का नाम ही भोगना है, परवस्तु को कोई नहीं भोगता है। आनन्द भी किसी पर से नहीं आता। आनन्दस्वरूप स्वयं हैं, पर किसी का निमित्त पाकर स्वयं आनन्दरूप परिणम जाते हैं। गहरी दृष्टि से सोचा जाय तो भोजन करते हुए में उस भोजन से आनन्द फूटकर नहीं निकलता। उस भोजन के विषय में जो हमारा ज्ञान बनता है उस ज्ञान का वह आनन्द है। कोई भी किसी बाह्य वस्तु को नहीं भोग सकता है।

**इच्छा के अभाव में सुख-** जितने भी सुख होते हैं वे सब सुख इच्छा के अभाव से होते हैं। इच्छा नहीं रही किसी वस्तु के प्रति तो सुख हो गया। इच्छा के पूर्ण होने का नाम इच्छा की पूर्ति नहीं है, किन्तु इच्छा के अभाव का नाम इच्छा की पूर्ति है। इच्छा के मिटने से ही इच्छा की पूर्ति होती है। बोरा तो गेहूँ के भरते-भरते पूर्ण होता है पर इच्छा इच्छाओं के मिटने से पूर्ण होती है।

जैसे कहते हैं ना कि हमारी इच्छा पूर्ण हो गयी तो उसका अर्थ यह है कि अब उसके उस वस्तु के प्रति इच्छा नहीं रही। जितने भी सुख मिलते हैं वे सब इच्छा के मिटने से मिलते हैं। एक ही जगह नहीं, सभी कार्यों में आप देख लीजिए। किसी मित्र से मिलना है तो जब तक उससे मिलने का विकल्प है, मिलने की इच्छा है तब तक बेचैनी है और वह मित्र मिल गया तो अब उस मित्र से मिलता है यह इच्छा नहीं रही, बस इस इच्छा के न रहने का सुख मिला है, उसे मित्र से मिलने का सुख नहीं मिला है। किसी काम के करने की इच्छा हुई तो उस काम को करने से सुख न मिलेगा, उस काम को करने की अब इच्छा नहीं रही, इससे सुख मिलेगा। तो किसी भी काम से किसी भी वस्तु से सुख नहीं मिलता।

**तत्त्ववेदी का प्रत्यय-** जो यथार्थतत्त्व के वेत्ता है वे जानते हैं कि मैं यह ज्ञानस्वरूप हूँ, मेरा सर्वस्व मुझमें है, मैं आनन्दस्वरूप हूँ, मेरा ही आनन्द मुझमें प्रकट होता है, ऐसा जिसके दृढ़ निर्णय है वह बाह्यपदार्थों में आसक्त नहीं होता। तत्त्वश्रद्धान का यही तो फल है। समस्त वस्तुओं को स्वतंत्र-स्वतंत्र जान लेना बस यही तत्त्वज्ञान का फल है। द्रव्य 6 जाति के होते हैं- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। दार्शनिक चर्चा में क्या बड़ें, इस प्रकार की ये 6 जातियाँ बतायी हैं कि जिसमें कोई दोष नहीं आता। अन्य प्रकार से बहुत से दार्शनिकों ने द्रव्य की संख्या बतायी, किन्तु कोई द्रव्य किसी द्रव्य में मिलकर एक बन सकता था, कोई द्रव्य छूट गया, इस तरह से अटपट संख्या बनी, किन्तु ये 6 जाति के पदार्थ में न तो कोई पदार्थ छूटा और न कोई किसी में मिलता जुलता है। जीव- जिसमें चेतना पायी जाय वे सब जीव हैं। जीव कहने से सब जीव आ गए। और, जीव में जीव को छोड़कर शेष 5 द्रव्य नहीं आये। पुद्गल- जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श हों वे सब पुद्गल हैं, पुद्गल में समस्त पुद्गल आ गए। पुद्गल के सिवाय अन्य कोई द्रव्य नहीं आया, ऐसी ही सब द्रव्यों की व्यवस्था है।

**स्वरूपबाह्य के सम्बन्ध की कल्पना में क्लेश-** ये समस्त पदार्थ स्वयं सत् हैं और अपने आप निरन्तर परिणमते रहते हैं। इसके आगे और कुछ नहीं होता। न परिवार का संयोग है, न परिवार से सुख आता है, न शत्रु से दुःख आता है। आज हमने जिसको शत्रु माना उसके प्रति अपनी मान्यता से दुःखी हो रहे हैं। किसी को अपना शत्रु न मानें, नम्र बनकर रहें, मिष्ट वचन बोलकर रहें, हम कुछ त्याग और उदारता के साथ रहे तो मेरा कोई शत्रु ही नहीं है। हमारा मन साफ है, किसी को शत्रु नहीं मान रहे, चाहे कोई पुरुष मुझ पर कितना ही उपसर्ग करे पर मैं दूसरों को शत्रु मानूँ तो उससे दुःख कई गुना हो जाता है। तो शत्रुता मानने से दुःख बढ़ता है, शत्रु से दुःख नहीं बढ़ता।

**जीव का आन्तरिक शत्रु-** एक राजा था तो जंगल में एक साधु के पास बैठ गया। कुछ उपदेश सुनने लगा। वह जा रहा था किसी शत्रु से लड़ने के लिए सेना को सजाकर। सेना कुछ दूर खड़ी कर दी और आप साधु के पास बैठ गया। कुछ चर्चा होने के बाद शत्रु की सेना कुछ निकट आने को हुई, उसे कुछ शब्द सुनाई दिये, सो राजा को कुछ क्रोध उत्पन्न हुआ, सो पहले तो राजा कुछ ढीलाढाला बैठा था, अब कुछ और कड़ाई करके बैठ गया और तलवार भी हाथ में ले लिया। कुछ और भी शब्द सुन पड़े तो तलवार भी तान ली। राजा की ऐसी हालत देखकर साधु बोला- राजन् ! तुम यह क्या कर रहे हो? तो राजा बोला- महाराज ! शत्रु ज्यों ज्यों निकट आता जा रहा है त्यों त्यों मेरे अन्दर क्रोध का वेग बढ़ता जा रहा है, तो साधु बोला- तुम बड़ा अच्छा कर रहे हो, शत्रु को तो बिल्कुल विध्वंस कर देना चाहिए और ज्यों ज्यों शत्रु निकट आये त्यों त्यों क्रोध बढ़ना स्वाभाविक है। मगर राजन् ! एक शत्रु तो तुम्हारे बिल्कुल निकट आ गया, तुममें ही बसा हुआ है, उस पर क्रोध करो, उसे निकालो। राजा बोला- महाराज वह कौनसा शत्रु है? साधु बोला- तुम्हारे चित्त में जो यह बात बैठी है कि अमुक मेरा शत्रु है यही भाव तेरा वास्तविक शत्रु है तो उस बात को निकाल दो। तुम्हारा अन्य कोई शत्रु नहीं। यह बात राजा की समझ में आ गयी, वह शुद्ध होकर ध्यान में बैठ गया। अब वही सारी शत्रु सेना जब वहाँ से गुजरती है तो राजा को शान्तमुद्रा में ध्यान करता हुआ देखकर वे सब अति प्रसन्न हुए और उसके चरणों में नमस्कार करने लगे। तो जब तक हम किसी दूसरे जीव को अपना विरोधी मानेंगे, अपना बैरी मानेंगे तब तक हममें चैन नहीं है। चाहे कुछ भी हो जाय, पर किसी दूसरे जीव को हम अपना विरोधी न मानें।

**स्वरूपनिर्णय में उलझनों की परिसमाप्ति-** भैया ! जीव का जो स्वरूप है उस पर दृष्टि दें, सब जीवों को यों निरखें कि सभी अपने कर्मों के अधीन होकर जैसी उनमें कषाय जगती है उस योग्यता माफिक वे अपनी परिणति करते हैं। मेरा कोई दुश्मन नहीं है। इसी प्रकार मेरा कोई मित्र नहीं है। हमारे ज्ञान की सावधानी होगी तो हम ही अपने मित्र हैं और हमारे ज्ञान की असावधानी होगी तो हम ही अपने शत्रु बन जाते हैं। बाहर में कोई मेरा मित्र शत्रु नहीं है, ऐसा निर्णय जिन ज्ञानी संतों को होता है वे पुरुष परवस्तुओं से सहज उपेक्षाभाव रखा करते हैं और ऐसे ही पुरुष कामवासना जैसे गंदे आशय से विरक्त रहते हैं और निष्काम शुद्ध ज्ञायकस्वरूप की उपासना करके अपने आत्मविकास की उन्नति करते हैं, ऐसे भी पुरुषों से कामी पुरुष घृणा करते हैं, उन पर क्रोध करते हैं। यह काम संसार में लोगों की ऐसी बुद्धि बिगाड़ देता है कि वे ऐसे ज्ञानी पुरुषों को भी घृणास्पद की दृष्टि से देखते हैं। हम ज्ञानार्जन से, सत्संगति से, स्वाध्याय से, परोपकार से और गृहस्थ हैं तो धनार्जन से कर्तव्य निभाकर एक शुद्ध मोक्षमार्ग की दृष्टि बनायें और यह निर्णय बनायें

कि हमारा जीवन तो धर्मपालन के लिए है, बाकी तो जीवन निर्वाह के लिए करना पड़ रहा है, ऐसा शुद्ध लक्ष्य होने पर नियम से अपना उद्धार होगा।

### श्लोक- 632

स्नुषां श्वश्रूं सुतां धात्रीं गुरुपत्नीं तपस्विनीम्।  
तिरश्चीमपि कामार्तो नरः स्त्रीं भोक्तुमिच्छति॥

**जीवों की ज्ञानानन्दविकासेच्छा-** हम आप सब जीव हैं और सभी जीवों का स्वरूप ज्ञान और आनन्द है। जैसे किन्हीं बाह्य पुद्गलों में हम निरखते हैं तो वहाँ रूप, रस, गंध, स्पर्श नजर आता है ऐसे ही आत्मा में निरखें तो क्या स्वरूप नजर आता है? वह स्वरूप है ज्ञान और आनन्द। अतएव जीव स्वयं सुखी है, इसका सुख स्वरूप ही है। जीव की चाह दो प्रकार की होती है। एक तो हमारा ज्ञान अच्छा बढे और एक आनन्द मिले। किसी भी परिस्थिति का प्राणी हो, ज्ञान और आनन्द की इच्छा जीव के हुआ करती है। बालकों को ज्ञान की बात मिलती है और उन्हें तो प्रायः सभी नई-नई बातें मालूम होती हैं तो उस ज्ञान में वे बड़ा आनन्द पाते हैं। नया हिसाब, नया भजन, नई बात, नई कहानी सुनने का कितना चाव रहता है। तो ज्ञान की इच्छा बालक, जवान, बूढ़े सभी को बनी रहती है। इसी प्रकार आनन्द की इच्छा भी सबको रहती है। तो इतना तो भला है कि सब लोग अपने स्वभाव की बात को ही चाहते हैं, लेकिन ज्ञानों में ज्ञान क्या है और आनन्दों में आनन्द क्या है? इसकी परख में भूल हुई कि सारा पटरा उनका उल्टा हो जाता है।

**पारमार्थिक ज्ञान और आनन्द-** ज्ञानों में ज्ञान वही श्रेष्ठ है जो ज्ञान, ज्ञान का भी ज्ञान कर ले। मैं ज्ञानस्वरूप कैसा हूँ और ज्ञान का भी स्वरूप क्या है? जो ज्ञान जानता है उस ज्ञान का स्वरूप क्या है इसका भी जिन्हें ज्ञान हो जाता है उनका ज्ञान ज्ञान है। और, आनन्दों में वह आनन्द है जिस आनन्द को किसी पर के सहारे की जरूरत न पड़े। जो किसी दूसरे पदार्थ का सहारा तक कर आनन्द पाते हैं वह आनन्द आनन्द नहीं है, जो पराधीन सुख है, कर्मों के अधीन है, इष्टजनों के अधीन है, जिस आनन्द का अन्त है, जिस आनन्द के पाने के बीच-बीच अनेक दुःख भरे पड़े हुए हैं वह आनन्द आनन्द नहीं है। आनन्द वही है जो निरपेक्ष है, स्वाधीन है, सहज है। वह आनन्द तब मिलता है जब ज्ञान अपने ज्ञानस्वरूप को जानता है। जो ज्ञान अन्य पदार्थों का विकल्प नहीं करता

उस समय में आत्मीय आनन्द प्रकट होता है। ऐसे ज्ञान और आनन्द की झलक जिन्हें हो जाती है उनके धर्मरुचि है, धर्म का विकास है, वे मोक्षमार्गी हैं। वे मोक्षमार्ग को पार करके निर्वाण प्राप्त करेंगे। यह पथ सबके लिए आदरणीय है। जैनशासन के उपदेश का सार यही है।

**ज्ञानी गृहस्थ का लक्ष्य-** इस अतुल किन्तु गहन आत्मीय मार्ग को जो नहीं पार कर सकते ऐसे ज्ञानी पुरुष विवेक सहित गृहस्थी को बसाते हैं। उस गृहस्थी को बसाने का प्रयोजन यही है कि हमारी अनर्गल हिंसा में प्रवृत्ति न हो, किसी की यह चोरी न करें, किसी परस्त्री को, पर पुरुष को बुरे भावों से न देखें। और, परिग्रह का भी अनाप सनाप संचय न करे। इन मोटे पापों से हम बचे रहें, इसके लिए कुछ थोड़े से पाप उसने स्वीकार किए हैं। स्वीकार नहीं किए बल्कि स्वीकार करने पड़ते हैं।

**ज्ञानी गृहस्थ की प्रवृत्तियों का आधार-** जैसे भोजन में, आरम्भ में, उद्यम में कुछ हिंसा हो जाती है, किसी अन्यायी का शत्रु मुकाबला करने में उन मनुष्यों का घात हो जाता है तो ऐसी वृत्तियाँ बन जाती हैं गृहस्थी में। इसके सिवाय अन्य हिंसायें छूट जाती हैं ज्ञानी गृहस्थ की। ज्ञानी गृहस्थ संकल्प से हिंसा नहीं करता। असत्य सम्भाषण व्यापार आदिक की बात कहने का दोष तो लगता है, वह तो असत्य है ही, पर व्यापार आदिक की कुछ बात बोलने का असत्य माना गया है, क्योंकि वह आत्मा के हित की बात नहीं है। वह एक लौकिक बात है और फिर जो व्यापार आदिक में झूठ बोले जाते हैं वे महा असत्य हैं। और ज्ञानी गृहस्थ अपनी गृहस्थी में काम चलाने के वचन व्यवहार के सिवाय और कुछ अनात्मीय वचन नहीं बोलता। इस प्रकार अचौर्य अणुव्रत में स्थूल चौर्य त्याग रहता है, चीजों का धरना, उठाना, रक्षा करना, कभी अपनी ही चीज की रक्षा के लिए कुछ झूठ भी बोल लिया जाता है, अपनी ही चीज छुपाकर रखी जाती है ये सब काम करने होते हैं, पर ज्ञानी गृहस्थ मोटी चोरी नहीं करता। इसी प्रकार गृहस्थ कामवासना का विजयी न हो सकने से जिससे विवाह हुआ है उस ही स्त्री में सन्तुष्ट रहता है, अन्य स्त्रीजनों में रंच भी विकार भाव नहीं लाता। इसका कारण यह है कि वह अपनी स्त्री में भी आसक्त नहीं है। वह जानता है कि यह शरीर मल, मूत्र, रुधिर आदि अपवित्र चीजों से भरा है, इसमें सार का कुछ नाम नहीं है जो प्रीति करने के योग्य हों ऐसे ज्ञानी पुरुष को काम सताये तो उसके विवेक यह रहता है कि वह अपनी स्त्री से सन्तुष्ट रहता है। इसी प्रकार गृहस्थों के परिग्रह परिमाण होता है। परिग्रह का परिमाण हुए बिना तृष्णा का महा दोष लगता है, सारे जगत के परिग्रह का दोष लगता है, जिसके परिग्रह का परिमाण नहीं है। कुछ तो परिमाण हो लाख दो लाख, 10 लाख हजार, तो प्रमाण होने पर फिर इससे अधिक सम्पदा वालों को देखकर मन में ऐसा विकल्प नहीं उठता कि मैं ऐसा नहीं हूँ क्योंकि

उसने नियम लिया है कि हमारा तो 2 लाख का परिमाण है। करोड़पति भी दिख जाय तो उसके चित्त में तृष्णा नहीं जगती कि मैं ऐसा क्यों न हुआ? साथ ही आश्चर्य भी नहीं होता है। वह तो जानता है कि सब पुण्य का फल है, सो भी सांसारिक चीज है। सम्पदा भी एक तरह की विपत्ति है, उसे आश्चर्य भी नहीं होता। तो यों जो सम्यग्ज्ञान सहित रहते हैं उनका जीवन शान्ति और निराकुलता में व्यतीत होता है। तो ऐसे पुरुष तो विवेक सहित अपना जीवन व्यतीत करते हैं।

**कामार्तों की अधमेच्छा-** जिन्हें तत्त्व के स्वरूप का बोध नहीं है, एक इस शरीर को ही अपना सर्वस्व आत्मा मानते हैं ऐसे पुरुषों के पाप में निरर्गल प्रवृत्ति होती है। सब विषयों में प्रधान विषय है काम। पशु, पक्षी, मनुष्य सभी काम से पीड़ित होकर जो चाहे काम कर लेते हैं जो काम चिन्तवन में भी नहीं आ सकते। कामी पुरुष के योग्य अयोग्य कुछ भी विचार नहीं रहता, वह पुत्रवधु, सास, गुरु की स्त्री, तपस्विनी सभी के संग भोग भोगने की चाह करता है। तो उस चाह में कितना अंधेरा है कि जिस अंधेरे में कुछ भान भी नहीं रहता। जगत में स्व पर क्या है, हित अहित क्या है, यह कुछ उसे पता नहीं रहता।

**ज्ञान की स्वच्छता का वैभव-** भैया ! ज्ञान सही बना रहे इससे बढ़कर और कोई विभूति नहीं है, कोई बड़े धनिक घराने में पैदा हो जाय और उसका ज्ञान व्यवस्थित नहीं है तो उसका जीवन क्या जीवन है, उससे तो दरिद्र मनुष्य भला है, जिसके कुछ बुद्धि तो है, प्रभु का कुछ नाम तो ले सकता है। यदि अपना ज्ञान सही हो, बुद्धि धर्म की ओर चले तो इससे बढ़कर सम्पदा कुछ न समझिये। जिनके बाह्य सम्पदा है उनका चित्त अगर धर्म में है तो सोने में सुगंध जैसी बात है। धर्मशून्य मनुष्य का जीवन कोई जीवन नहीं है। कम से कम दिन रात में दो घंटे तो धर्मरुचि में, धर्मपालन में, स्वाध्याय में, ज्ञानार्जन में ऐसे लगायें कि उस समय कोई बाहरी विकल्प न आने दें। रात दिन किसी बात की चिन्ता करते रहने से कोई सिद्धि नहीं हो जाती है। चित्त और व्यग्र रहता है, पर यह साहस ज्ञानी ही तो कर सकता है। अभी दुकान की ड्यूटी दिया, मंदिर में आया तो दुकान के सारे विकल्प छोड़कर केवल एक धर्म की धुन बनायी, यह बात ज्ञानी पुरुषों से ही बन सकती है। तो धर्म की धुन ही एक वास्तविक शरण है।

**केवलीप्रणीत धर्म का शरण-** हम आप लोग पूजा में बोलते हैं- केवली पण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि। मैं केवली द्वारा बताये गए धर्म की शरण को प्राप्त होता हूँ। प्रभु ने धर्म बताया है कि हे भव्य आत्मन् ! धर्म तुममें ही है। तुम अपने स्वभाव पर दृष्टि दो और धर्म की शरण गहते रहो। प्रभु ने यह उपदेश नहीं किया कि तुम्हें यदि संसार के दुःख मिटाना हो तो तुम हमारी शरण में रहो।

उनका उपदेश है कि तुम्हारा शरण तुम्हारे स्वभाव में ही मौजूद है, उसकी दृष्टि करो, उसमें लीन हो और मुक्ति प्राप्त करो। भला जो इतना निरपेक्ष शुद्ध बिना लाग लपेट के सत्य उपदेश करे तो ऐसा उपदेश सुनने वाला तो प्रभु की उपासना में भक्ति में गद्गद् हो जायगा। जब प्रभु के उपदेश किए हुए मार्ग से हम अपने आपमें कोई अद्भुत आनन्द पायेंगे तो हम प्रभु के कितने भक्त बनेंगे?

**प्रभुता की परम भक्ति-** प्रभु का भक्त वही है सच्चा जो उसके गुणों को निरखकर उसके प्रति प्रेम बनाये। वही है वास्तविक प्रेम। और, गुण कुछ न मालूम हो लेकिन कहता रहे कि यह बड़ा ज्ञानी है, बड़ा महात्मा है, बड़ा त्यागी है, ऐसा बड़ा-बड़ा सुनकर ही जो भक्ति की जाती है उस भक्ति में अन्तर है। किसी साधु के किसी महापुरुष के गुण भी समझ में आ रहे हों, उनके भीतर की दृष्टि भी अपने अनुभव में आयी हो और फिर भक्ति जगे तो उस भक्ति की अपूर्वता है और एक कहने सुनने मात्र से भक्ति जगे तो वह एक रूढ़ि भक्ति है। ऐसे ही प्रभु के गुण समझकर प्रभु का क्या स्वरूप है, कितना निर्दोष स्वरूप है, केवलज्ञान है, शुद्ध आनन्द है, जहाँ रागद्वेष मोह का निशान नहीं है, जिसका ज्ञान इतना स्पष्ट है कि समस्त लोक और अलोक एक साथ ज्ञान में झलक रहे हैं ऐसी प्रभु के गुणों की समझ आये और फिर प्रभु के भक्त बने वह भक्त है अपूर्व, और चूँकि प्रभु की मूर्ति है, इसकी वंदना करने से पुण्य होता है। केवल एक ऊपरी बातों से जो भक्त होता है उसमें वह अपूर्वता नहीं है इस कारण कल्याणार्थी पुरुष को सर्वत्र गुणग्राही होना चाहिए।

**देवगुरुस्वरूपनिर्णयता का संकटहारी कदम-** देवभक्ति करें तो देव के गुणों की समझ बनायें। देव क्या चीज है? गुरुभक्ति करें तो गुरु के गुणों की समझ आनी चाहिए। गुरु का अर्थ है ज्ञान और वैराग्य का पुतला। यों समझ लीजिए छोटे शब्दों में। जहाँ स्पष्ट ज्ञान हो और संसार के मायाजालों से विरक्ति भी हो, ऐसे आत्मा का नाम है गुरु। और, देव ऐसे ही ज्ञान वैराग्य की उत्कृष्ट साधना से जो पूर्व में तो सर्वज्ञ हो गए हैं ज्ञान पूर्ण विकसित हो गया है और वैराग्य भी पूर्ण बन गया है, रागद्वेष का सर्वथा अभाव हो गया है, ऐसे सर्वज्ञ और वीतराग को देव कहते हैं। तो जैसे देव का हम स्वरूप सर्वज्ञ और वीतराग को जानते हैं ऐसे ही गुरु का भी स्वरूप है- उसमें सर्वज्ञता का लगार तो हो, वीतरागता का कुछ अंश तो हो। तो उनके गुणों को निरखकर जो भक्ति की जाती है वह सच्ची भक्ति है और वही सच्चा भक्त है। तो जिसे अपने स्वरूप का परिचय है, देवगुरु के स्वरूप का परिचय है, शास्त्र में क्या उपदेश है वह तथ्यभूत है, इन सबका निर्णय है ऐसा पुरुष संसार के संकटों से दूर होने का उपाय कर लेता है।

## श्लोक- 633

किं च कामशरव्रातजर्जर मनसि स्थितिम्।

निमेषमपि बध्नाति न विवेकसुधारसः॥

कामजर्जरित मन में विवेक सुधाबिन्दु के ठहरने का अभाव- जो इच्छा के वाणों से जर्जरित हो गया है और विशेषतर मदनवाणों से जर्जरित हो गया ऐसे मन में रंचमात्र विवेकरूपी अमृत की बूँद नहीं ठहर सकती है। जिसके हृदय में तृष्णा बसी है उसके चित्त में विवेक कहाँ से ठहरेगा? जो इच्छायें करता रहता है, मन में आशाओं के पुल बाँधता ही रहता है उसे लोग शेखचिल्ली कहा करते हैं। मैं ऐसा करूँगा, फिर यों करूँगा, फिर यों करूँगा, यों पुलावा बाँधने वाले शेखचिल्ली कहलाते हैं। कामेच्छा में तो यह प्राणी शेखचिल्ली से भी अधिक मूढ़ और विपन्न हो जाता है ही, किन्तु जिनके परिग्रह का परिमाण नहीं है उनकी भी बड़ी दुर्दशा है, क्योंकि चित्त में बड़ी-बड़ी बातें बनी रहती है। हालांकि कोई गरीब हो तो वह अधिक से अधिक बात तो लाख रुपये की बात सोच ले, उसके ज्यादा बुद्धि ही नहीं है, पर लाख होने पर फिर तो आगे की बात सोचेगा। तो जिसको परिग्रह का परिणाम नहीं है उसमें शेखचिल्लीपना बना रहता है।

तृष्णावी का पुलावा- एक परिग्रह पाप की कथा श्मश्रुनवनीत की पुराण में दी गई है। एक मनुष्य था, जिसका नाम श्मश्रुनवनीत था, हिन्दी में मूँछमक्खन कह सकते हो। श्मश्रु का अर्थ है मूँछ और नवनीत का अर्थ है मक्खन। वह प्रतिदिन श्रावकों के यहाँ मट्टा पीने जाता था। एक दिन उसने मट्टा पीकर अपनी मूँछ पोंछी तो हाथ में कुछ मक्खन लग गया। सोचा कि यह तो बहुत बढ़िया व्यापार का साधन निकल आया। रोज-रोज मट्टा पीवेंगे तो कुछ दिनों में काफी मक्खन इकट्ठा हो जायेगा। उसने ऐसा ही काम शुरू किया। रोज-रोज मट्टा पीवे और मूँछों को हाथ से पोंछ कर मक्खन इकट्ठा कर ले। इस तरह से साल में ही दो-तीन सेर घी जुड़ गया। वह झौंपड़ी में तो रहता ही था। एक बार जाड़े के दिनों में वह उसी झौंपड़ी में ताप रहा था। ऊपर सिकहरे में घी का डबला टंगा था। एकाएक ही शेखचिल्लीपने का वेग दौड़ा। सोचा कि अब हम इस घी को बेचेंगे, करीब दस रुपये का हो जायेगा, फिर दस रुपये से खोमचा लगायेंगे, फिर 100) रुपये हो जायेंगे, फिर दुकान बनायेंगे, फिर हजार हो जायेंगे, फिर जमीन खरीदेंगे, बड़ी खेती करेंगे। भैया ! है अभी झौंपड़ी में, पर सोच रहा है इस तरह से। फिर महल बनवायेंगे, विवाह करेंगे, बच्चे भी होंगे तो बच्चे आयेंगे मुझे बुलाने, कहेंगे कि चलो पिताजी ! माँ ने रोटी जीमने को बुलाया है। वह सब बातें अपने

मन में गुन रहा है, है वहाँ कुछ नहीं। तो यों ही कह दिया कि अभी नहीं जाते। फिर कहेगा कि चलो ददा ! माँ ने रोटी खाने को बुलाया है तो फिर मना कर देंगे कि अभी नहीं खायेंगे। फिर बुलाने आयेगा तो लात फेंककर बोला कि अबे, अभी नहीं जाते। वह लात लगी डबेले में, डबला आग में गिर गया, घी जलने लगा, झ्रौंपड़ी जलने लगी। वह बाहर निकलकर चिल्लाने लगा- अरे दोड़ों ! हमारा मकान जल गया, स्त्री जल गयी, बच्चे जल गए, जानवर जल गये, सारी सम्पत्ति नष्ट हो गयी। लोग जुड़ गए। सोचते हैं कि अभी तक तो यह भीख मांगता था और आज यह इस तरह से कह रहा है ऐसी क्या बात है? तो लोग उससे पूछते हैं कि तेरे पास तो कुछ भी न था, भीख मांगता था और इस तरह से क्यों कह रहा है कि मेरे स्त्री, पुत्र, मकान, जानवर, सारी सम्पत्ति जल गयी? तो उसने बताया कि मेरे पास दो सेर घी था, उसे बेचता तो इस इस तरह से इतने-इतने धनी बन जाते इतने-इतने स्त्री, पुत्र, धन, सम्पत्ति हो जाते, पर आग में वह घी भी जल गया और झ्रौंपड़ी भी जल गयी तो वे सब कुछ तो जल गए। एक सेठजी समझाने लगे कि जला तो तुम्हारा कुछ भी नहीं, वे सब तुम्हारी कल्पना की ही तो बातें थी। तो एक समझदार सेठजी से कहने लगा कि यह बात तो आपकी भी है। तुम अपने घर के चार प्राणियों को, धन वैभव को जिन्हें अपना समझ रहे हो वे भी तो तुम्हारे कुछ नहीं हैं, वे सब भी तो कल्पना से मानी हुई बातें हैं। वे सब तुमसे अत्यन्त भिन्न चीजें हैं।

**तृष्णा में विवेक का पलायन-** भैया ! इन बाह्य विभूतियों से कोई धनिक नहीं कहलाता, ये सब तो आत्मा से भिन्न क्षेत्र में हैं, भिन्न प्रदेश में हैं। उनसे इस आत्मा का क्या सम्बन्ध? कल्पना से ही यहाँ बड़े बन रहे। मान लो कोई कंजूस आदमी है और बड़ा धनी भी है धन को खर्च नहीं करना चाहता, गाड़कर रखता है, खुद भी नहीं ठीक ठीक खा पी सकता तो उसमें और गरीब में अन्तर क्या है? हाँ इतना अन्तर जरूर है कि कंजूस का कदाचित् भाव बदल जाय तो वह अपनी सम्पत्ति को दान और परोपकार में तो लगा सकता है, पर यह गरीब यदि दान करने का भाव भी करे तो क्या दान में लगावेगा? उसके पास धन तो है ही नहीं। ऐसा वर्तमान में मात्र औपचारिक तो अन्तर है पर जिसके विवेक नहीं, परिग्रह परिमाण नहीं, सबसे न्यारा अपने आत्मतत्त्व को समझता नहीं उस पुरुष के सन्तोष नहीं जग सकता। तृष्णा लगेगी तो सारे विश्व को चाहेगा और योग्य, अयोग्य का कुछ भी विचार न रखेगा। इच्छाओं की रानी है कामेच्छा। जो कामबाण से जर्जरित हैं उनके मन में विवेकरूपी अमृत की बूँद रंच भी नहीं ठहर सकती। जैसे फूटे घड़े में पानी नहीं ठहरता इसी प्रकार कामबाणों से जिसका चित्त छिदा हुआ है उस चित्त में विवेकरूपी अमृत जल ठहर नहीं सकता।

**कल्याणार्थी का प्रशस्त पथ-** कल्याणार्थी का कर्तव्य यह है कि वह समस्त पदार्थों का न्यारा-न्यारा स्वरूप समझे। घर में जितने जीव हैं वे सब अपने-अपने मालिक हैं। वे अपने आत्मा के ही धनी हैं, स्वतंत्र-स्वतंत्र उनका परिणामन है। भाग्य सबका सबके साथ है, उनका परिणाम उन उनके साथ है। यहाँ कुछ विवेकी पुरुषों का संग जुड़ जाय तो विवेक के कारण कुछ धार्मिक चर्चा कर ले, सो भी सब अपने-अपने भाव की बात करते हैं। कोई किसी का साथी नहीं है यह बात स्पष्ट निर्णय में होनी चाहिए तब शान्ति प्राप्त हो सकती है। नहीं तो बाहरी चीजें जोड़-जोड़कर कौन शान्ति पा सकता है? वैभव कितना ही संचित हो जाय पर उसके संचय से शान्ति नहीं प्राप्त होगी। इस वैभव को क्षणिक जानकर पुण्योदय से जो वैभव प्राप्त होता है उसमें ही अपना बटवारा बना लें। इतना गुजारे के लिए है, इतना दान परोपकार के लिए है, इतना अन्य आवश्यक कार्यों के लिए है। और इसमें करना ही क्या है? मनुष्य हुए हैं, थोड़े दिनों का जीवन है, अन्त में मरण होगा ही, इतने दिन स्वाध्याय ज्ञानार्जन में चाव रहेगा। साधु, संत, गुरुवों की आराधना में चाव रहेगा तो हमारा भविष्य उज्ज्वल रहेगा और वहाँ ही अपने आपका दर्शन करके, प्रभु की भक्ति करके वहाँ भी तृप्त रहेंगे। यहाँ के वैभव संग प्रसंग से बस आत्मा को कुछ भी सन्तोष नहीं हो सकता, न आनन्द हो सकता। इस कारण ज्ञान और वैराग्य की शरण लें। धन वैभव के संचय में शरण न मानें। ये समस्त वैभव विनश्वर है, नष्ट होंगे, इनसे मेरे आत्मा में कुछ भी लाभ नहीं। परपदार्थों से राग द्वेष मोह हटे, अपने आपका शरण गहें तो समझिये कि अपने भगवान का दर्शन प्राप्त हो गया। यह सारा संसार तो मायाजाल है, यहाँ की सारी चीजें असार हैं।

### श्लोक- 634

हरिहरपितामहाद्या बलिनोऽपि तथा स्मरेण विध्वस्ताः।

त्यक्तत्रपा यथैते स्वाङ्गान्नारीं न मुञ्चन्ति॥

**निर्विकार स्वरूप में औपाधिक विकार-** जीव का स्वरूप केवल ज्ञानप्रकाशमात्र है। अपने आपमें अपने मात्र ही खुद निरखें कि जिसमें यह मैं हूँ ऐसा बोध हो रहा है, उस सत् में तत्त्व क्या है, उसका स्वरूप क्या है? तो वहाँ रूप न मिलेगा, न रस, न गंध और न स्पर्श मिलेगा, वह केवल ज्ञानप्रकाशमात्र है। यह आत्मा अमूर्त है, ज्ञानस्वरूप है। जिस ज्ञान से हम कुछ जाना करते हैं वही

ज्ञान तो आत्मा है। इन ज्ञानपरिणमनों का आधारभूत जो एक ज्ञानशक्ति है उसका नाम आत्मा है। वह आत्मा विषयकषाय से रहित है, परवस्तुओं से निर्लेप है, अपने स्वरूप से है, पररूप से नहीं है। यह स्वयं आनन्दस्वरूप है, पर अनादि से परउपाधि लगी रहने में कारण इसकी विकार अवस्था बन गयी है, और उस विकार में यह इतना बह गया है कि इसके नानारूप बन गए हैं। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय ऐसे जो नानारूप दिख रहे हैं ये भिन्न-भिन्न प्रकार में विकार हैं, और उनसे ये नाना प्रकार की अवस्थायें बन रही हैं।

**साधकों का भी कामवश सत्पथ से विचलन-** कभी योग ऐसा आता है कि कुछ विकार कम होते हैं। ज्ञानप्रकाश जगता है तो वह व्रत नियम भी ले लेता है, कल्याण के लिए ज्ञानार्जन भी करता है, संन्यास व्रत भी ले लेता है। वहाँ कर्मप्रेरणावश ये विकार सतारें, तो उन्हें भी तपश्चरण के सत्पथ से दूर कर देता है। जैसे कि लोक में मूढ़ पुरुष लौकिक जन अपनी स्त्री को गोद से बाहर नहीं करते ऐसा भी चारित्र जिनका है कि जिसमें स्त्री के निकट ही रहा करे और लोग भी ऐसे अनुयायी हैं कि उन्हें भगवान मानकर पूजते हैं- ये भगवान हैं और यह इनकी भगवती बैठी है। भगवान आत्मा निर्लेप पवित्र केवल ज्ञानानन्दस्वरूप है। उसका किसी से कुछ प्रयोजन नहीं। स्त्री पुत्रादिक का होना तो गृहस्थी में सम्भव है पर कैसा मोह का प्रताप है कि स्त्री और पुरुष दोनों को भगवान और भगवती मानकर पूजते हैं। ये सब विकार के परिणाम है। बड़े-बड़े बलिष्ठों को भी इस काम ने यों नष्ट किया, चारित्र भी उनका सुना जाता है। पुराणों में बताया कि तिलोत्तमा देवांगना ने जब पितामह ऋषि को डिगाना चाहा तो वह सामने नाची तो उस ओर वे देखते रहे, दूसरी ओर नाची तो उस ओर भी निरखने के लिए सिर मोड़ने का कष्ट क्यों करना पड़े यों दूसरा मुख बना दिया, तीसरा मुख पीछे बना दिया, फिर चौथा मुख बना दिया, आकाश में नृत्य करने लगी तो 5 वाँ मुख बना दिया। तो इसका निष्कर्ष यह जानना कि इस लोक में काम की व्यथा बहुत कठिन व्यथा है। इस कामवासना को जो जीतते हैं वे आत्मा के ध्यान के पात्र होते हैं।

**निष्काम अन्तस्तत्त्व के मिलन बिना शान्ति का अनवसर-** इस लोक में आत्मा के ध्यान के अतिरिक्त अन्य कुछ शरण नहीं है। ये जगत के दृश्यमान पदार्थ जो हैं इनसे इस आत्मा का कुछ सम्बन्ध नहीं है। रही एक लौकिक प्रतिष्ठा और लौकिक इज्जत की बात, तो यह मायारूप है। किसी ने मुझे बड़ा कह दिया तो उससे मेरे आत्मा का क्या सुधार हो गया और किसी ने मुझे छोटा कह दिया तो उससे मेरे आत्मा का क्या बिगाड़ हो गया? लेकिन कुछ ऐसी मोह की प्रणाली है जीव में कि इस लोक में अपने आपको प्रतिष्ठित बनाने के लिए धन का बड़ा संचय करते हैं। क्या, जो है उससे गुजारा नहीं होता? पर मैं धनी कहलाऊँ इसके लिए धन का संचय करते हैं, तो ये विकार

इस जीव को यों सताते हैं इनसे मोह नहीं छूटता और अपने आपकी दृष्टि नहीं जगती। जब तक अपने आपकी दृष्टि अपनी ओर न लगे तब तक शान्ति का कोई अवसर नहीं मिल सकता है।

### श्लोक- 635

यदि प्राप्तं त्वया मूढ नृत्वं जन्ममोग्रसंक्रमात्।

तदा तत्कृ येनेयं स्मरज्वाला विलीयते॥

नरजन्म के सुयोग में कामज्वाला मेटने का अवसर- हे प्राणी जरा विचार तो सही- जगत में और और जीव भी तो हैं। जो तेरा स्वरूप है सो उन जीवों का स्वरूप है कुछ अन्य तो नहीं है। स्वरूप तो एक भाँति है। जैसे ये भैंसा, बैल, घोड़ा आदि जीव नजर आते हैं, कितना बोझा लादे चले जा रहे हैं, हाँफते जा रहे हैं फिर भी उन पर कोड़े बरसते हैं। वे भी तो जीव अपने ही समान हैं। उन सब योनियों से निकलकर आज मनुष्य हुए हैं तो हमने धर्मयोग्य अवसर पाया है, बात समझ सकते, मन की बात बता सकते, दूसरों के मन की बात सुन सकते, समझ सकते। कितनी ऊँची स्थिति पायी है। संसार के अन्य जीवों का मुकाबला करके देखो तो मालूम पड़ेगा कि हमने बहुत दुर्लभ जन्म पाया है। अब जो भव-भव में व्यसनों का काम करते आये, विषय कषायों को ही लेते आये, उन ही में आसक्त रहे तो यह मनुष्य जन्म व्यर्थ समझिये, ऐसा काम करें जिससे विषयों से अरुचि बने, काम की ज्वाला नष्ट हो जाय।

विषयवेदना के अनर्थ- एक कथानक है कि कोई अंध पुरुष किसी नगर में जाना चाहता था। उस नगर के चारों ओर कोट था और उस कोट का मुख्य द्वार एक ओर था। नगर छोटा था, पर बड़े लोग उसमें रहते थे। वह इस चाह से जाना चाहता था कि इस नगर में पहुँचने पर मेरा जीवन अच्छा कट जायेगा। वह बेचारा अंधा था और साथ ही सिर में खाज भी थी। तो उसने सोचा कि इस कोट पर हाथ रखकर उसके सहारे चलते जायेंगे और जहाँ दरवाजा मिलेगा वहाँ से प्रवेश करके चले जायेंगे। वह चलता गया, बहुत देर के बाद जहाँ दरवाजा मिला वही अपने हाथों से अपने सिर की खाज खुजाने लगा और पैरों से चलना बन्द न किया। दरवाजा निकल गया, फिर चलता गया, फिर दरवाजा मिलने के समय अपने हाथों से अपने सिर की खाज खुजाने लगा, फिर दरवाजा निकल गया। ऐसे ही समझिये- चौरासी लाख योनियों में चक्कर लगाते-लगाते आज मनुष्य

जन्म पाया है, इसको अगर विषयकषायों की खाज खुजाने में ही अपना जीवन खो दिया तो फिर हित का मार्ग ढूँढ़े न मिलेगा। राग, द्वेष, मोह की, विषय कषायों की तरंग न उठे तो समीचीनता जगती है। उससे ही ऐसा अनुपम आनन्द जगता है कि जहाँ निराकुलता, शान्ति विश्राम प्राप्त होती है। पर की ओर दृष्टि है तो विषाद होता है, कलह होता है, रागद्वेष बढ़ते हैं, विकल्प बढ़ते हैं। तो समझिये कि हम कुपथ पर बढ़ रहे हैं।

**भेदविज्ञान से समस्याओं की सुलझन-** भैया ! अपना समय दिन-रात का 24 घंटे का है, चौबीसों घंटा परपदार्थों की चिन्ता लादे रहने से तो सिद्धि नहीं होती। कुछ अपने दो चार मिनट तो निर्विकल्प, चिन्ता रहित, विश्रामसहित होकर तो बितायें, वहाँ ही पता पड़ेगा कि वास्तविक दुनिया क्या है? जो आँखों दिखता है यह तो अँधेरखाता है इन्द्रजाल, है, ज्ञानधर्मरूप तृतीय नेत्र से अपने आपको जो निरखता है उसके ही सब कुछ समृद्धि है, यही वैभव है, यही आनन्द है और यही निर्वाण का स्वरूप है। ऐसा आनन्द जगेगा कि जिस आनन्द के प्रताप से भव-भव के संचित कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। कर्तव्य है भेदविज्ञान का। इस जीव ने अब तक अनेक कार्य किये, पर भेदविज्ञान का कार्य नहीं किया। भेदविज्ञान का अर्थ है सबसे निराले अपने ज्ञानस्वरूप को पहिचान लेना। जब कभी आप जाप में, ध्यान में यह अनुभव करेंगे कि यह मैं हूँ, ज्ञानमात्र हूँ, सबसे न्यारा हूँ, शरीर से भी जुदा हूँ। ऐसा ज्ञानमात्र अपने आपको जब निरखेंगे तो सब समाधान अपने आप हो जायेगा। मैं किसलिए यहाँ आया हूँ, मुझे क्या करना है, सब समाधान अपने आप हो जायेगा। और, जो इस धुन में रहता हो, उसके लिए न लौकिक दिक्कत रहती, न पारलौकिक दिक्कत रहती, सभी समस्याओं का हल हो ही जाता है, अपने आपको अपनी ओर अधिक ले जायें।

**क्लेशों की काल्पनिकता पर एक दृष्टान्त-** यहाँ कोई किसी को दुःखी करने वाला नहीं, कोई भी किसी का बैरी नहीं, विरोधी नहीं, किन्तु खुद ही अपनी कल्पनाएँ बनाकर दुःखी हो जाते हैं सभी चीजें जहाँ जैसी हैं तहाँ तैसी हैं, उससे मुझमें कुछ फर्क नहीं आता। मैं ही स्वयं अपनी कल्पनाएँ गढ़ता हूँ, और अपने को दुःखी कर डालता हूँ। जैसे कोई सेठ सो तो रहा है अच्छे कमरे में जहाँ पर सब प्रकार के साधन हैं, अनेक नौकर-चाकर हैं, मित्रजन भी दिल बहलाने के लिए बैठे हैं उसे सोते हुए में कोई ऐसा स्वप्न आये कि बड़ी तेज गर्मी लग रही है, चलें समुद्र की सैर करने। वह जब चलने लगा तो लड़के, स्त्री, नौकर सभी समुद्र में सैर करने जाने के लिए तैयार हो गए। सपरिवार सेठ समुद्र में सैर करने के लिए चला। नाव में सभी बैठ गए। जब करीब एक मील पानी में नाव तैर गयी तो एक भयानक भँवर समुद्र में उठी। नाविक बोला कि नाव न बचेगी, डूब जायगी, मैं तो किसी तरह तैर कर निकल जाऊँगा। सेठ हाथ पैर जोड़ने लगा। बोला- 10 हजार ले लो,

20 हजार ले लो, 50 हजार ले लो, पर हमें किसी तरह पार कर दो। नाविक बोला कि जब हमारे ही प्राण नहीं रहेंगे तो रुपये कौन लेगा? सेठ बड़ा दुःखी हो रहा है। ये सब स्वप्न की बातें कह रहे हैं। सेठ बड़ा विह्वल हो रहा था। अब आप यह बताइये कि उसके दुःख को क्या उसके नौकर-चाकर, मित्रजन अथवा सारे आराम के साधन मेट सकते हैं? कोई भी उसके दुःख को मेटने में समर्थ नहीं है। उसके दुःख को मेटने में समर्थ तो यही है कि वह जग जाय, नींद खुल जाय, लो सारे दुःख खतम हो गए। जहाँ देखा कि ओह ! वे तो सारी स्वप्न की चीजें थीं, न यहाँ समुद्र है, न कोई नाव डूब रही है, न कोई दुःख की चीज है, बस सारे उसके दुःख खतम हो गए।

**ज्ञान से क्लेशों का प्रक्षय-** ऐसी ही बात यहाँ के मोही जीवों की है, इसको मोह की नींद के स्वप्न आ रहे हैं, जिसके कारण ये सब दुःखी हो रहे हैं। यह मेरा है, मैं इसका हूँ, यह आया, वह मिटा ऐसे सारे स्वप्न जैसे ही तो दिख रहे हैं और इन स्वप्नों के फल में क्लेश ही क्लेश है। सम्पदा का समागम हो, अथवा कोई भी समागम हो, सबमें कुछ न कुछ क्लेश तो रहता ही है। चाहे हर्ष का क्षोभ रहे, चाहे खेद का क्षोभ रहे। मोह की नींद में जो कुछ समागम नजर आ रहे हैं ये सब क्षणभंगूर हैं, अहित हैं, पर ये मोही जीव इन्हें भी सच सच समझ रहा है। जैसे स्वप्न देखने वाला स्वप्न की बात को झूठ नहीं समझता ऐसे ही मोह की नींद में यह मोही प्राणी इस मायाजाल को झूठ नहीं समझ सकता। सच समझता है। अरे कोई गुजर गया तो मेरा ही तो गुजर गया, कैसे सुख मिलेगा, ऐसा वह बिल्कुल सत्य समझता है, इससे दुःखी है। ऐसे दुःखी पुरुष कैसे अपना दुःख दूर कर सकेंगे? इसका कोई उपाय है क्या? कोई कुटुम्बी इस दुःख को मिटा सकेगा क्या? आत्मा के भ्रम से उत्पन्न हुए क्लेश को स्त्री, पुत्रादिक कोई भी मिटा सकने में समर्थ नहीं हैं। वे मीठी-मीठी बातें भी करेंगे, पर आपके दुःख को नहीं मिटा सकते। खुद का ज्ञान ऐसा ऐसा जागरूक बनाना पड़ेगा तब दुःख मिटेगा। तो इसे मोह की नींद में देखे गए स्वप्न से जो क्लेश हो रहे हैं उन क्लेशों के मेटने का उपाय केवल एक है। बहुत वैभव जुड़ जाय, परिजन मित्रजन बड़ी हंसी के शब्द भी बोलें, राग के शब्द भी बोलें, उससे दुःख नहीं मिटता, यह आत्मा के भ्रम से उत्पन्न हुआ दुःख है। यह दुःख तब मिटेगा जब जग जाय, ज्ञान हो जाय, भेदविज्ञान जग जाय। अन्य उपायों से क्लेश नहीं मिटता।

**अपने भले का विचार-** अब अपनी-अपनी सोच लीजिए कि हम शरीर के आराम में, विषयों के आराम में अपना कितना तन, मन, धन, वचन सर्वस्व लगाते हैं और एक अपने ज्ञानप्रकाश के लिए, ज्ञान के अनुराग के लिए कितना तन, मन, धन, वचन लगाते हैं? दो ही तो खुराक है- शरीर की खुराक है भोजन, भोग, उपभोग और आत्मा की खुराक है ज्ञान। कोई पुरुष अज्ञान पीड़ित हो,

तृष्णा से पीड़ित हो, अन्य कषायों के वशीभूत हो जिससे अत्यन्त विह्वल हो रहा है। ऐसे विह्वल जीवों को कौनसे उपायों से शीतल बना सकते हैं? क्या उसे बर्फखाने में डाल दिया जाय तो उसकी विह्वलता शान्त हो जायगी? अरे उसके शीतल करने का उपाय एक यही है कि वह अपने बारे में ज्ञान करे, अपनी ओर दृष्टि दे, अपने आपमें लीन होने का यत्न करे तो उसकी सारी विह्वलताएँ शीघ्र ही समाप्त हो सकती है। अपनी प्रगति के लिए, ध्यान के लिए, ज्ञान के लिए अपना सही विवेक बनायें। यों तो आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये सभी चीजें सभी संसारी जीवों में लगी हुई हैं। मनुष्य में ही क्या विशेषता है? मनुष्य में विशेषता केवल धर्म की है। धर्म न रहे, ज्ञानदृष्टि न रहे तो जैसे सभी जीव हैं वैसे ही यह मनुष्य है, कोई फर्क नहीं होता है। यह धर्म का काम स्वाधीन है, दिखावट, बनावट, सजावट से परे है भीतर ही विचार करना है, सबसे न्यारा ज्ञानमात्र अपने आपको निरखना है, इसमें किसी की अधीनता नहीं होती है, ऐसे गुप्तरूप उपाय से, गुप्तरूप कल्याण का कार्य कर जायें तो यही सच्ची कमाई है, शेष तो सब स्वप्न की जैसी बातें हैं।

### श्लोक- 636

स्मरदहनसुतीव्रानन्तसन्तापविद्धं  
 भुवनमिति समस्तं वीक्ष्य योगिप्रवीराः।  
 विगतविषयसङ्गाः प्रत्यहं संश्रयन्ते  
 प्रशमजलधितीरं संयमारामरम्यम्॥

**कामाग्निदाह से बचने का संतों का यत्न-** जैसे कोई पुरुष किसी वन के किनारे जलती आग को देखकर उससे बचकर सही रास्ते से चलकर नदी के तट पर पहुँच जाता है तो उसे अग्नि का भय भी नहीं रहता है, अगर आयगी अग्नि यहाँ तक तो इस नदी के जल में कूद जायेंगे। यों उसके वहाँ निःशंकता रहती है, ऐसे ही इस संसार में इच्छा को अग्नि को निरखकर, काम अग्नि को निरखकर और उन इच्छाओं के, कामव्यथाओं के संतापों से पीड़ित जीवों को निरखकर जो विवेकी पुरुष हैं वे संयमरूपी जल से शोभायमान शान्त समुद्र के तट का सहारा लेते हैं।

**ज्ञानी गृहस्थ की अन्तर्वृत्ति-** जब एक गृहस्थावस्था है, घर में रहते हैं तो यद्यपि सब निभाना पड़ेगा, पालन-पोषण, दूसरों का ख्याल, व्यवस्था, आजीविका कार्य, पर सब कुछ निरखकर भी ज्ञानी

गृहस्थ अपने आपको केवल ज्ञानस्वरूप सबसे निराला समझता रहता है। हूँ तो मैं इतना ही, पर करना यह सब पड़ता है। ऐसा ज्ञानी निरखता है, जब कि मोही पुरुष इस जगत के कार्यों में रुचि लगाकर आसक्त रहते हैं। बस इतना मात्र अन्तर है, ज्ञानी और अज्ञानी मनुष्य में। वही काम ज्ञानी कर रहा है, वही काम अज्ञानी कर रहा है, लेकिन ज्ञानी तो उससे निर्लेप है और अज्ञानी उसमें आसक्त है। ज्ञानी तो जल में भिन्न कमल की नाई है। जैसे कमल जल में ही पैदा हुआ, जल से ही उसका जीवन है, बिना जल के जी नहीं सकता, इतने पर भी कमल जल से अलिप्त बहुत ऊँचे रहता है। और वही कमल किसी कारण से पानी में आ जाय तो वह सड़ जाता है। ऐसे ही यह ज्ञानी गृहस्थ है। यद्यपि वह घर में ही पैदा हुआ, घर से ही उसका पालन-पोषण है, घर के कार्यों को करता है फिर भी घर से वह अलिप्त रहता है। उसका उपयोग परमात्मतत्त्व में बसा रहता है। अगर घर के कामों में वह बस जाय तो वह सड़ जायेगा अर्थात् अज्ञानी हो जायेगा। संसार में रुलना पड़ेगा।

**समीचीन दृष्टि-** ज्ञानी गृहस्थ संयम भी नहीं धार सक रहा, किन्तु उसके सम्यग्दर्शन है तो उसकी इन्द्र तक भी पूजा करते हैं, इन्द्र तक भी उसका आदर देते हैं। तो सबसे बड़ी विभूति है सम्यग्दर्शन के प्राप्त होने की। वह सम्यक्त्व भेदविज्ञान से प्रकट होता है। भेदविज्ञान वस्तु के स्वरूप के यथार्थ जानने से प्रकट होता है। प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में हैं। किसी का कोई नहीं है। प्रत्येक पदार्थ पुद्गल अणु अणु अपना अपना अस्तित्व रखते हैं। मेरे में जो कुछ सुधार बिगाड़ है वह मेरे परिणमन से है। किसी परपदार्थ से परिणमन से नहीं है। यों प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र-स्वतंत्र निहारने की जिसे दृष्टि बन जायगी बस वही क्षण सम्यग्दर्शन का है, इसी को ही सम्यक्त्व का अनुभव कहते हैं।

**हितकारिणी दृष्टि-** प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र-स्वतंत्र अपने स्वरूप की सत्ता में आ रहे हैं। इस तरह दृष्टि बनने का नाम है सम्यग्दर्शन। इसके प्रताप से वैराग्य प्रकट होता है, उपेक्षा प्रकट होती है, पर में अनासक्ति होती है, अपनी ओर रुचि होती है, और जिस समय यह जीव केवल हो जायगा, शरीर से भी रहित, कर्मों से भी रहित केवल ज्ञानानन्द प्रकाशमात्र रह जायगा उसी का नाम सिद्ध भगवान है। वे अनन्तकाल तक के लिए ऐसे ही आनन्दमग्न रहेंगे। उन्हें आदर्श मानकर हम अपने में यह भाव भरे कि मुझे यह बनना है। यहाँ के धनिक, नेतागिरी आदिक के पद कुछ भी मूल्य नहीं रखते हैं। मैं तो इस शरीर से भी न्यारा, रागादिक भावों से भी न्यारा केवल ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आपका अनुभव करूँ और जैसा मैं सहज हूँ वैसा ही मैं हो जाऊँ, बस यही स्थिति मुझे चाहिए अन्य कुछ न चाहिए। ऐसी रुचि जगे उस ही के मायने है ज्ञान का अभ्युदय। उस ज्ञान की भावना

होनी चाहिए और उसके लिए अपने को अभी से ऐसा मनन करने लगे कि मैं सचमुच देह से भी जुदा हूँ और केवल ज्ञानस्वरूप हूँ। मेरे गुण मेरा वैभव हैं, मेरा परिणमन मेरी समृद्धि है, अन्य सब कुछ पर है, भिन्न है, मैं तो ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ ऐसा अनुभव करने का यत्न करना चाहिए।

**परकल्याण का मूल ब्रह्मचर्य धर्म-** ब्रह्मचर्य ही एकमात्र शरण तत्त्व है। ज्ञानस्वरूप आत्मा ज्ञानपरिणति द्वारा ज्ञानस्वरूप में ज्ञानरूप में अवस्थित हो जाय, इसमें आत्मा का सर्वकल्याण है यही परमब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के धारण से शान्ति के सत्य मार्ग में गमन होता है। ब्रह्मचर्य ही योगिपूजित परम ब्रह्मधर्म है। ब्रह्मधर्म ही श्रेयोमार्ग में अनिवार्य और आन्तरिक तपश्चरण है।

॥ज्ञानार्णव प्रवचन नवम भाग समाप्त॥